

रसौचित्य



देवी प्रसाद गुप्त,
शोधछात्र, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य का मुख्य प्रयोजन रस ही है¹ 'रस' शब्द की व्याख्या तैत्तरीयोपनिषद् में वर्णित 'रसो वै सः'² के अनुसार आनन्दमय अर्थ में किया जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने तो अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर अर्थात् परमानन्द के सदृश बतलाया है।³ परमानन्द की प्राप्ति किस प्रकार हो? यह एक विचारणीय प्रश्न है। चूँकि आनन्द-प्राप्ति के साधन काव्य में रसवन्ता कितनी उचित है अथवा कितनी अनुचित! इसका बोध परमावश्यक है अन्यथा आनन्द-प्राप्ति में क्लेश की सम्भावना भी उत्पन्न हो जायेगी, क्योंकि आनन्दपूर्वक सभी रहना चाहते हैं। इस आनन्द की प्राप्ति में सत्य-प्रिय वचन का प्रयोग भी होना आवश्यक है। असत्य और अप्रिय युक्त काव्य से रसवन्ता प्राप्त करना अनुचित है। अतएव भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार रस-प्राप्ति में जो सम्प्रदाय आये हैं वे उसका कितना उचित अथवा अनुचित प्रयोग करते हैं। यह अनुचित रस-प्राप्ति रस-दोष है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस दोषों का प्रमुख कारण अनौचित्य बतलाया है।⁴ आचार्य मम्मट भी इस विचार को स्वीकार करते हैं और औचित्य के वर्णन को ही रस परिपोषण का रहस्य बतलाते हैं। दोषों के स्वरूप का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य वामन के ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्र में मिलता है। वे दोषों को गुणों का विपर्यय मानते हैं।⁵ आचार्य आनन्दवर्धन ने दोष वर्णन में नित्य और अनित्य के रूप में दो भेद किये हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य मम्मट ने कुल 72 दोषों का सोदाहरण विवेचन किया किन्तु केवल वाक्य-दोषों के जो 29 भेद वर्णित हैं उसमें रस हानिकर्ता तत्वों को ही दोष माना गया है। नित्य दोषों में च्युतसंस्कार और रसस्वशब्द वाच्यत्व जैसे दोष माने गये हैं, किन्तु क्रान्तिकारी साहित्य में स्थापित वर्गमूलक संस्कृति को पदच्युत् करने और लोक संस्कृति की स्थापना के लिये च्युतसंस्कार जैसे दोषों की अवहेलना को गुण मान लिया जाता है। यह प्रवृत्ति सामयिक युयुत्सामूलक उपन्यासों कहानियों और कविताओं में स्पष्ट देखी जा सकती हैं इनके विपरीत जिन प्रयोगों को भद्र संस्कृति में सुसंस्कृत प्रयोग माना जाता था उन्हें देशकाल परिवर्तन से च्युतसंस्कार माना जाने लगा है। उदाहरणतः आज 'नितम्बिनी', 'रम्भोरू' जैसे विशेषणों से नारी को सम्बोधित नहीं किया जा सकता क्योंकि नारी को समान अधिकार देकर उसके व्यक्तित्व का आदर जनतंत्रीय संस्कृति की विशेषता हो गयी है। इकसे विपरीत रीतिकाल में नारी समग्रतः भोग का साधन थी। अतः प्रेम-प्रसंगों में इस प्रकार के विशेषण संस्कृत प्रयोग माने जाते थे। इसी प्रकार रस के स्वशब्दवाच्यत्व को भी किन्हीं विशेष स्थितियों में गुण माना जा सकता है।⁶ अतः रसौचित्य की समस्या एक अंतर्द्वन्द्व की समस्या है। इस समस्या का समाधान ही प्रस्तुत शोध पत्र की गवेषणा में निहित है।

काव्य शास्त्रिय आचार्यों ने औचित्य-बोध की व्यापकता को रस का मूलाधार माना है।⁷ औचित्य की रक्षा हेतु विभावादि के विधान को आवश्यक माना है। यह विधान देशकालविशेष में स्वीकृत औचित्य के आधार पर ही होना चाहिए यथा भारतीय मान्यता के अनुसार श्रृंगार रस वहीं माना जाएगा, जिसमें धर्मशास्त्र के अनुसार प्रेम के आलम्बन वर्णित हो। अतः रति में एक निष्ठता को नैतिकता का अवलम्बन मानने से रावण की सीता के प्रति रति या एक नायिका की अनेक प्रेमियों के प्रति रति का वर्णन रसाभास की सृष्टि करेगा।

रसाभास क धारण से यह स्पष्ट होता है कि रस वहीं माना जा सकता है जहां सामाजिक नैतिक बोध पर प्रहार न हो अनुचित प्रेम सम्बन्धों के वर्णन रसाभास प्रधान होते हैं। ऐसे स्थलों में सामाजिक को वास्तविक रस की प्रतीति न होकर रस की झलक मात्र मिलती है, क्योंकि अनुचित रति में उसका हृदय विद्रोह करता है। आचार्य अभिनवगुप्त में सीता के प्रति रावण की रति में रस सनहीं, रस का भ्रम मानते हैं।⁸ रस रति-पूर्णता नहीं होती। प्रेम द्विपक्षीय न होने से रति स्थायीभाव न रहकर व्यभिचारीभाव बन जाती है। कामज् मोह के कारण शुक्ति में रजत् के सदृश श्रृंगार का आभास मात्र ही अनुभूत होता है।⁹ अनुचित वही है जिसे लोक और शास्त्र अनुचित कहे, किन्तु लोक-शास्त्र परिवर्तित या विकसित होते रहते हैं। प्रकृति और नीति के द्वन्द्व से जीवन का विकास होता है। अतः भारतीय रसवाद की दृष्टि में इस परिवर्तन पर विचार न होने से रसाभास की धारणा के अनुसार परकीयाओं के रतिवर्णन, फारसी-उर्दू के एक पक्षीय प्रेम की कथाएँ और काव्य शुद्ध रस की कोटि से बाहर हो जाएँ। आधुनिक उपन्यासों में स्वच्छन्द प्रेम के प्रसंग भी रसत्त्व खो बैठेंगे, किन्तु रसाभास की धारणा में देशकाल का भेद स्वीकृत है। अतः स्वच्छन्द प्रेम सम्बन्धों का ही मूल्य देने वाले जन-समूह के लिये एक निष्ठिरति श्रृंगाराभास की सृष्टि होगी। भारत में सामन्तकालीन बहुपत्नित्व भारतीय-संस्कृति के अनुकूल माना जाता था, किन्तु समाजवादी देशों में उसे श्रृंगाराभास ही कहा जायेगा।

अतः व्यापक काव्य प्रभाव और भाव तल्लीनता के लिए स्वीकृत नैतिक विधान को दृष्टिगत रखना आवश्यक है, किन्तु देशकाल के द्वन्द्व के अतिरिक्त प्रकृति और संस्कृति का द्वन्द्व प्रबलतर होता है। अतः स्वीकृत नैतिकता के अनुकूल चलने वाले भी एकान्त में स्वच्छन्द प्रेम से सम्बन्धित उपन्यास पढ़ा करते हैं। इसके विपरीत यौन-सम्बन्धों की अराजकता हो जाने पर स्वच्छन्दता, अश्लील और अनैतिक प्रतीत होने लगती हैं तब सीता-सावित्री के प्रतीक प्रिय हो उठते हैं। संतुलित स्थिति में यौन सम्बन्धों की नैतिकता और स्वतंत्रता का द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है, क्योंकि प्रथम संस्कृति और सभ्यता के लिये आवश्यक है तो दूसरी इसलिये प्रिय लगती है कि मनुष्य अपने सामूहिक कल्याण के लिये निर्मित बन्धनों को जहाँ तक तोड़ पाता है-तोड़ता है। अन्यथा वह काव्य कला के स्तर पर यौन स्वतंत्रता का मानसिक भोग करता है। इस प्रकार रस और रसाभास का द्वन्द्व संस्कृति और मानव स्वतंत्रता का द्वन्द्व बन जाता है।

इस कारण पारम्परिक नैतिकता के कारण रसाभास या अश्लीलता का प्रश्न उलक्षित गया है। इसके समाधान हेतु पश्चिमी विचारक कार्ल आर. पॉपर ने अपने विचार कुछ इस तरह व्यक्त किये हैं। 'जीवन के परिचय के लिये व्यक्ति को केवल खतरा ही नहीं उठाना चाहिए, अपितु आत्मनाश भी करना चाहिए।'¹⁰ विनाश का सामाना करने पर ही जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सकता है।¹¹ अतः अपने को बरबाद करते हुए आनन्द लेना चाहिए¹² यह उसकी शिक्षा है।

मेरे विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य में रसास्वाद की प्राप्ति के लिए व्यक्ति 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' अर्थात् महात्मा गाँधी के सर्वोदय सिद्धान्त को अपनाना चाहिए। अतः कवि अथवा पाठक को स्वत्वपरत्व की भावना से ऊपर उठकर काव्य का आलोक या काव्यास्वाद ग्रहण करना चाहिए, यही सदृढयता है। यही सहृढयता ही रसौचित्य का आधार है।

निष्कर्षतः रसास्वाद एक स्वतंत्र प्रक्रिया है। जीवन जीने का जो आनन्द नैतिकता और सामाजिक बन्धन के साथ—2 प्रकृति के अनुसार सामंजस्य बिठाकर चलने वाला व्यक्ति प्राप्त करता है, वह आनन्द स्वच्छन्द जीवन जीने की लालसा रखने वाला अथवा व्यभिचारी कदापि नहीं प्राप्त कर सकता है। जीवन के मूल्यों का रहस्य प्रकृति के बन्धन में छिपा है, इसी को आधार मानकर महाकवि को अपने काव्य के आलोक को समाज में फैलाना चाहिए तथा शास्त्रों को ऐसे ही नियम बनाने चाहिए जो प्रकृति के विकास में सहायक हों। अतः प्रकृति के विकास में ही परमानन्द की प्राप्ति सम्भव है, यही रसौचित्य का आधार है।

सन्दर्भ सूची

1. नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते – नाट्यशास्त्र – 6.31. वृत्ति भाग
2. रसौ वै सः – तैत्तरीयोपनिषद् 2-7-1 पृष्ठ 161
3. सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
4. वेदान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।। – साहित्यदर्पण – 3.2 पृष्ठ – 105
5. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्। औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा। ध्वन्यालोक 3.14 वृत्ति-पृष्ठ- 190
6. गुण विपर्ययात्मनो दोषाः – काव्यालंकारसूत्रवृत्ति – 2.1.2
7. न दोषः स्वपदनेक्तोवपि संचारिण क्वचित्। – काव्यप्रकाश – 6.82. पृष्ठ 365
8. प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। ध्वन्यालोक – 3.14 पृष्ठ – 188
9. सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायवादाः। कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी।।-ध्वन्यालोक 3.14 वृत्ति भाग – पृष्ठ – 194

10. तथा हि तदाभासत्त्वेन कामना भिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारी भावों न स्थायों कामजमोहरसत्वान् शुक्लौ रूप्याभासवत् – हिन्दी अभिनव भारती पृष्ठ – 518
11. In order to live in the essential sense, one must live in a crisis. In the order to taste life one has not only to risk, but to lose – *The open society and Its Enemies Karl R. Popper Peg. No.- 280*
12. But face destruction – and you will get the thrill of your life – *The open society and Its Enemies Karl R. Popper Peg. No.- 280*
13. Enjoy yourself perishing - *The open society and Its Enemies. Karl R. Popper Peg. No.- 280*